

ज्ञान और शिक्षा की राजनीति

यमुना सनी

एक बार फिर हमारी राष्ट्रीय शिक्षा नीति का दक्षिणपंथी राजनैतिक झुकाव हो जाने के परिणामस्वरूप यह जरूरी है कि मानव संसाधन विकास मंत्रालय द्वारा आज की शिक्षा के लिए प्राचीन ज्ञान का उपयोग करने पर जो जोर दिया जा रहा है उसके निहितार्थों की पड़ताल की जाए। यह लेख इस बात को रेखांकित करता है कि ज्ञान व्यक्तियों और समाजों की चेतना का स्वरूप तय करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। एक ओर जानकारियों को वैधता प्रदान करने के इसके कार्य का उपयोग यथास्थितिवादी राजनैतिक शक्तियों द्वारा किया जाता रहा है, वहीं दूसरी ओर, इसकी मुक्तिदायी संभावनाओं का उपयोग लोगों के राजनैतिक संघर्षों द्वारा किया जाता रहा है। आज की शिक्षा में ज्ञान की भूमिका की गहराई से पड़ताल करने की और उस पर बहस करने की जरूरत है, ताकि ऐसी व्यवस्था बनाई जा सके जिसमें वर्तमान में हाशिये पर रहने वाले सभी लोगों को शामिल किया जा सके।

सांप्रदायिक रंग में रंगी स्कूली पाठ्यपुस्तकें और पारंपरिक भारतीय शिक्षा का अतार्किक महिमामंडन, ये सन् 2000 में बनी स्कूली पाठ्यक्रम की राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा (एनसीएफएसई)-1 की परेशान कर देने वाली विशेषताएं थीं। इन प्रवृत्तियों का विरोध किया गया, सरकार बदल जाने के साथ ही 2005 में इन प्रवृत्तियों को नियंत्रित कर दिया गया और राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा (एनसीएफ) अस्तित्व में आई। एनसीएफ में बच्चों को केन्द्र में रखने और “सीखने के बोझ” को कम करने जैसे पहलुओं पर विशेष जोर दिया गया, जिन्हें एनसीएफएसई में भी शामिल किया गया था। इसके “बच्चों द्वारा ज्ञान के निर्माण” जैसे विशिष्ट विचारों का स्कूली पाठ्यपुस्तकों पर और देश के शिक्षाविदों के कथनों पर कुछ प्रभाव पड़ा है। पर यह ज्ञान को उसके दो पहलुओं में बांट देता है। एक है बच्चों द्वारा निर्मित ज्ञान और दूसरा पाठ्यचर्या के विषयों में निरूपित ज्ञान (सनी, 2010)। यह ऐसे बारीक भेद निर्मित करता है जो ऐतिहासिक रूप से विकसित हुई ज्ञान की बुनियादों को सिरे से खारिज कर देते हैं। सौभाग्य से, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद (एनसीईआरटी) और कुछ राज्यों की शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषदों (एससीईआरटी) के अंतर्गत 2005 के बाद लिखी गई कई पाठ्यपुस्तकें ज्ञान से जुड़े आलोचनात्मक नजरियों को व्यावहारिक ढंग से दर्शाने में सफल रही हैं और इस तरह उन्होंने इस सिद्धांत को एनसीएफ से आगे बढ़ाया। 2005 के इस दस्तावेज में या तो ज्ञान पर होने वाली राजनीति पर समग्र चर्चा करने से बचा गया है या फिर इसे नीतिगत रूप से महत्वपूर्ण नहीं माना गया। पर अब, मानव संसाधन विकास मंत्रालय ने आज की शिक्षा के लिए प्राचीन भारतीय ग्रंथों से सामग्री इकट्ठा करने की तैयारी शुरू कर दी है। (डेक्कन क्रॉनिकल, 7 जून 2014)

इस लेख का उद्देश्य प्राचीन/पारंपरिक, आधुनिक/उत्तर-आधुनिक या पूर्व/पश्चिम का ध्रुवीकरण करना नहीं है। इस तरह के ध्रुवीकरणों से हमें अपनी आंतरिक सामाजिक गतिकी को आलोचनात्मक ढंग से समझने में

कोई मदद नहीं मिलती। हमें उस राजनीति के निहितार्थों की पड़ताल करने की जरूरत है जिसका एक पैर, भाषणों के रूप में भारतीय परंपराओं में जमा है और दूसरा पैर मजबूती से 21वीं सदी में उपलब्ध तकनीकी विकास के स्वरूपों पर जमा है, जो बहुत हद तक सोशल मीडिया पर निर्भर करता है। यहां, एक ओर, उपयोग की गई तकनीकों का, बगैर किसी आलोचना के, समकालिक होना जरूरी है, वहीं दूसरी ओर हमारे सामाजिक-राजनैतिक नजरियों को तय करने वाले ज्ञान का, बगैर किसी समीक्षा के, पारंपरिक होना जरूरी माना जाता है। इस देश में शिक्षा की प्रकृति के लिए दोहरी प्रवृत्तियों वाले इस गठजोड़ के गंभीर परिणाम हो सकते हैं। इस लेख में शिक्षा में निहित ज्ञान के विभिन्न आशयों की और हमारे देश में शिक्षा पर पड़ने वाले इसके प्रभावों की पड़ताल करने की कोशिश की गई है।

ज्ञान: सामाजिक रूप से दो भागों में बंटा हुआ

एक ब्राह्मण और नाविक की एक लोकप्रिय कहानी में, ब्राह्मण नाविक को लगातार यह जताता रहता है कि चूंकि उसे वेदों का ज्ञान नहीं है इसलिए उसका जीवन निरर्थक है। जब नाव वीच नदी में पहुंचती है तो नाविक ब्राह्मण से कहता है कि अगर अभी नाव डूबने लगे तो ब्राह्मण का जीवन कितना निरर्थक हो जाएगा क्योंकि ब्राह्मण तैरना नहीं “जानता” था और निश्चित ही डूब जाता। यह कहानी लोकप्रिय है क्योंकि यह दिखाती है कि किस प्रकार ब्राह्मणों में जीवन के कौशलों का अभाव होता है, और इस तरह ब्राह्मण में ज्ञान की इस कमी का मजाक उड़ाया गया है। समाज में ज्ञान जिस गहराई से दो भागों में बंटा होता है उसे भी यह कहानी प्रतिबिंबित करती है। किसे कौन सा ज्ञान होना चाहिए? यह श्रम के विभाजन, तथा ऊंची जातियों, वर्गों और पुरुषों के सत्ता और समृद्धि पर एकाधिकार द्वारा तय होता है। इसमें कोई आश्चर्य नहीं है कि दो हिस्सों में ज्ञान के विभाजन को श्रमजीवी वर्गों, दलितों और महिलाओं के सामाजिक-राजनैतिक संघर्ष की जड़ के रूप में स्वीकार किया जाता है।

19वीं सदी के समाज सुधारक और सामाजिक कार्यकर्ता ज्योतिराव फुले माली जाति के थे, पर उन्होंने “1848 में शूद्रातिशूद्र लड़कियों के लिए भारत का पहला स्कूल खोला था (देशपांडे 2002 : 03)”² उनके पिता को ऊंची जातियों के द्वारा इस बात का बदला लिए जाने का जायज डर सताने लगा। ज्योतिराव तथा सावित्रीबाई जिनसे ज्योतिराव ने 1840 में शादी की थी, दोनों उस स्कूल में पढ़ाते थे उनको पिता का घर छोड़ना पड़ा। इससे जुड़े वर्णन में आगे बताया गया है,

ज्योतिराव आसानी से हारने वालों में से नहीं थे। 1851 में, उन्होंने एक और स्कूल की स्थापना की जिसमें सभी जातियों की लड़कियां पढ़ सकती थीं। इसके बाद उन्होंने 1855 में कामगारों के लिए संध्याकालीन स्कूल खोला। इस समय तक ज्योतिराव की गतिविधियों को लेकर गुस्सा काफी बढ़ गया था। 1856 में तो उनके ऊपर जानलेवा हमला भी हुआ। (देशपांडे, 2002 : 03)

शिक्षा तक “पहुंच” का मुख्य संघर्ष उस जगह तक पहुंच बनाने का संघर्ष है जो सामाजिक और सांस्कृतिक रूप से बहुत से लोगों की पहुंच से बाहर के स्थानों के रूप में स्थापित है। जहां आधुनिक स्कूलों ने दलितों के लिए शिक्षा के स्थानों को खोल दिया है, वहीं जाति से जुड़े पारंपरिक बारीक भेदों ने उनके लिए उन स्थानों को बहुत हद तक सीमित भी कर दिया। इस स्थिति को बी. आर. अंबेडकर बड़े जीवंत रूप में सामने लाते हैं, जब वे नौ साल के बालक के रूप में हुए अपने अनुभवों का वर्णन करते हैं।

मैं जानता था कि मैं अछूत था, और यह भी जानता था कि अछूतों के साथ खास तरह का असम्मानजनक व भेदभावपूर्ण व्यवहार होता था। उदाहरण के लिए, स्कूल में मैं अपनी वरीयता के हिसाब से अपनी कक्षा के विद्यार्थियों के बीच नहीं बैठ सकता था, बल्कि मुझे अकेले एक कोने में बैठना पड़ता था। मुझे पता था कि कक्षा में मुझे एक अलग चटाई पर बैठना था, और स्कूल की सफाई करने के लिए नियुक्त सेवक मेरी चटाई को छूता तक नहीं था। मुझे अपनी चटाई रोज स्कूल छूटने पर घर ले जानी होती थी और अगले दिन फिर लानी होती थी। मुझे यह भी पता

था कि सवर्ण वर्गों के बच्चे प्यास लगने पर नल पर जाकर अपनी प्यास बुझा सकते थे। उन्हें केवल शिक्षक की अनुमति भर लेना पड़ती थी। लेकिन मेरी स्थिति अलग थी। मेरे मामले में शिक्षक की अनुमति पर्याप्त नहीं थी। (नल खोलने के लिए) स्कूल के चपरासी की उपस्थिति आवश्यक थी क्योंकि वह अकेला व्यक्ति था जिसका इस्तेमाल कक्षा शिक्षक इस उद्देश्य के लिए कर सकते थे। अगर चपरासी उपलब्ध न हो तो मुझे बिना पानी पिए ही काम चलाना पड़ता था (रविकुमार और आनंद 2007 : 11)

ऐसी प्रथाओं को, जो “ज्ञान” को अधिकांशतः ऊंची जाति के पुरुषों तक सीमित करती थीं, प्राचीन ग्रंथों का सहारा भी मिला हुआ था। इसलिए एक तरफ ज्योतिराव-सावित्रीबाई आधुनिक ज्ञान तक पहुंच बनाने के लिए तो संघर्षरत थे पर दूसरी तरफ उन्होंने ‘मनुस्मृति’ जैसे पारंपरिक ज्ञान को अस्वीकार कर दिया था, जो दलितों और महिलाओं के लिए मनुष्यों से कमतर जीवन की वकालत करता है। इसलिए यह संघर्ष एक ही साथ ज्ञान के लिए भी और ज्ञान के विरुद्ध भी था, जो न्यायपूर्ण समाज के निर्माण के संघर्ष में ज्ञान की समीक्षात्मक पड़ताल के महत्व को दर्शाता है।

यह दिलचस्प बात है कि जहां फुले और अंबेडकर जाति व्यवस्था को कमजोर करने के लिए आधुनिक ज्ञान तक पहुंच को जरूरी मानते थे वहीं मोहनदास गांधी ने इस सवाल को अलग ढंग से उठाया। उनके कार्य “नीची” जातियों के जीवन कौशलों को वैधता देने वाले थे ताकि उनका परंपरागत ठोस ज्ञान आधुनिक ज्ञान के साथ मिल जाए। “निश्चित ही मैं यह मानता हूँ कि हमारा अधिकांश समय रोटी कमाने की जद्दोजहद में चला जाता है इसलिए यह जरूरी है कि हमारे बच्चों को शैशवकाल से ही ऐसे श्रम की गरिमा समझाई जाए। हमारे बच्चों को ऐसी शिक्षा नहीं मिलनी चाहिए कि वे श्रम को घृणा की दृष्टि से देखें” (कलेक्टेड वर्क्स ऑफ महात्मा गांधी, भाग 21, 1966 : 38)।

इस विचार में बड़ी गहरी राजनैतिक संभावनाएं हैं, जैसा कि कुमार कहते हैं (2005 : 180) क्योंकि इसके अनुसार स्कूली पाठ्यचर्या में ज्ञान के उस स्वरूप को शामिल करने से, जिस पर नीची जाति के समूहों का एकाधिकार था, पारंपरिक ज्ञान व्यवस्था से इसका सीधा टकराव होना निश्चित था। इसका राजनैतिक निहितार्थ यह था कि इसने अमूर्त विचार और ठोस परिश्रम के बीच सामाजिक रूप से निर्मित विभाजन को सुलझाने का प्रयास किया। सिद्धांतों और क्रियात्मक ज्ञान के बीच का यह ढांचागत अलगाव दुनिया को देखने के सामाजिक रूप से अलग नजरियों का निर्माण करता है और बुनियादी शिक्षा के माध्यम से गांधी का नजरिया इसी अलगाव को पाटने की कोशिश थी। पर उनकी कोशिशों का देश में कहीं भी कोई फल नहीं मिला। जाति और लिंग से जुड़े पूर्वाग्रहों की गहरी जड़ों के कारण, सामाजिक प्रतिष्ठा के संकेतार्थ स्पष्ट रूप से शारीरिक श्रम न करने के पक्ष में थे।

इटली में भी लगातार बढ़ते हुए खास तरह के व्यावसायिक स्कूलों में ग्राम्शी ने देखा कि विद्यार्थी के भविष्य के कार्य को परंपराओं के आधार पर पहले से तय कर दिया जाता था। वैकल्पिक समाधान के रूप में, ग्राम्शी ने सामान्य बुनियादी शिक्षा की वकालत की जो “शारीरिक श्रम (तकनीकी, औद्योगिक) करने की क्षमता के विकास और बौद्धिक श्रम करने के लिए जरूरी क्षमताओं के विकास में संतुलन बना सकें (होलगर और स्मिथ 2009 : 27)।” ग्राम्शी की सोच में निरंतर यह विचार देखा जा सकता है, जो पारंपरिक और सामाजिक रूप से ज्ञान को दो भागों में बांटने वाली प्रक्रियाओं के खिलाफ चेतावना है।

ज्ञान : गतिशील प्रक्रिया

ज्ञान को एक स्थिर भंडारगृह की तरह नहीं माना जा सकता। पारंपरिक तथा आधुनिक ज्ञान के बीच एक अंतर्निहित संबंध होता है। परन्तु यह एक ऐसा रैखिक संबंध नहीं होता जो जानने के “विशुद्ध” जोश से संचालित होता हो, जिस तरह हम अकसर उसे देखते हैं। ज्ञान का निर्माण और समय के साथ उसमें होने वाले परिवर्तनों का स्वरूप सामाजिक ढांचों/प्रचलनों, उत्पादन की प्रणालियों की परस्पर साथ चलने वाली प्रक्रियाओं, और राज्य की भूमिका के द्वारा निर्धारित किया जाता है। और ये भी समीक्षाओं, विभिन्न दृष्टिकोणों तथा नए साक्ष्यों के द्वारा फिर से संशोधित होते रहते हैं। मनुस्मृति की फुले द्वारा की गई पड़ताल पारंपरिक ज्ञान की एक समीक्षा ही है।

जब ज्ञान को एक रुके हुए ऐसे संग्रह की तरह देखा जाता है जो समीक्षाओं और प्रश्नों से परे है, तब वह ऐसे रूढ़िवादी सिद्धांत बनकर रह जाता है जिनमें केवल यथास्थितिवादी राजनैतिक उद्देश्य ही निहित हो सकते हैं। आधुनिक शिक्षा भी अकसर सवाल उठाने की क्षमता निर्मित न करने की, और ज्ञान के सामाजिक-ऐतिहासिक संदर्भों की पड़ताल न करने की प्रवृत्ति का शिकार बन जाती है। उदाहरण के लिए, आधुनिक स्कूली शिक्षा एक वैज्ञानिक स्वभाव निर्मित कर पाने में सफल नहीं हो पाई है जो कि प्रारंभ से ही उसका लक्ष्य था। विज्ञान शिक्षाशास्त्री मैथ्यू (1995, 2000) ध्यान दिलाते हैं कि इस समस्या का समाधान विज्ञान की शिक्षा की विषयवस्तु में परिवर्तन करते हुए उसमें विज्ञान के दर्शन और इतिहास को समाहित करके किया जा सकता है। इसमें एक गतिशील प्रक्रिया की तरह ज्ञान की पड़ताल करने की जरूरत निहित है - ताकि यह देखा जा सके कि समझ स्थान और काल के साथ-साथ बदलती रहती है। इसका यह मतलब भी है कि ज्ञान की पड़ताल उसे केवल तकनीकी या उपकरणीय जानकारी की तरह न मानकर, उसे उस विशेष सामाजिक तथा ऐतिहासिक संदर्भ में देखते हुए करने की जरूरत होती है जो उसके स्वरूप को निर्धारित करता है।

शिक्षा अपने आप को उस राजनीति के चंगुल में फंसने से बचा सके जो सामाजिक वंचना की तरफ धकेलने की प्रक्रियाओं को मजबूत बनाती है, इसके लिए उसे ज्ञान की पुनर्व्याख्याओं के समृद्ध योगदानों का उपयोग करने की जरूरत है। सर्व समावेशी शिक्षा के लिए केवल अधोसंरचना की सुविधाओं की ही जरूरत नहीं है, बल्कि उसके लिए ज्ञान की जीवन्तता और गतिशीलता को सुगम बनाने की भी जरूरत है। मैं यहां इस बात को स्पष्ट करने के लिए कुछ उदाहरणों का उपयोग करूंगी।

भारतीय इतिहास लेखन तीखे विवादों और सामंजस्यों का साक्षी रहा है। भारत के बारे में यूरोपीय दृष्टिकोण मोटे तौर पर दो प्रकार का रहा है - एक वह जो पूर्वीय ज्ञान को एक रूमानी आभा प्रदान करता है, और दूसरा वह जो उसे यूरोपीय इतिहास की तुलना में तुच्छ मानता है। भारत में राष्ट्रवादी इतिहासकारों ने रक्षात्मक रुख अपनाते हुए भारत के अतीत को गौरवान्वित किया। लेकिन इनमें से कोई भी प्रचलित दृष्टिकोण भारत के अतीत की, और उसमें उसके सामाजिक ढांचों के द्वारा निभाई गई भूमिका की समीक्षात्मक पड़ताल नहीं कर सका। इस गतिरोध को कई इतिहासकारों ने दूर किया। डी. डी. कोशाम्बी की कृतियों ने पुनर्व्याख्या के एक बड़े मार्ग को प्रशस्त किया, जो एक ऐसे जोश से भरपूर था जो कि न तो रूढ़िवादी था, और न ही तुच्छ मानकर उपेक्षा करने वाला, और न ही अतीत को महिमामंडित करने वाला, और जो “एक स्वतंत्र मत निर्मित करता था और जो इतिहास कथा को उन लोगों की दृष्टि से बयान करता था जो श्रम करते थे परन्तु जिनका उपलब्धियों के विस्तृत विवरणों वाले इतिहास में कोई महत्व नहीं था” (चक्रवर्ती 2006 : xix)। उसके बाद, आर. एस. शर्मा, डी. आर. चानना, रोमिलाथापर, वी. वी. झा, उमा चक्रवर्ती तथा अन्य लोगों ने पुनर्व्याख्या के इस चश्में को आकार देने में अपने योगदान दिए।

उन्होंने भारतीय समाज को समीक्षात्मक दृष्टि से देखा और आम लोगों के जीवन के बारे में जानने के लिए, संस्कृत के स्रोतों पर निर्भरता की परंपरा को भंग करते हुए, प्राकृत और पाली के स्रोतों में निहित जानकारी का उपयोग किया। कई इतिहासकारों ने उत्पादन के तरीकों के माध्यम से सामाजिक परिवर्तनों का विश्लेषण किया। स्त्रियों और सेवकों के बारे में किए गए इतिहास लेखन ने पुनर्व्याख्या करने के दृष्टिकोणों को और भी तीखी धार प्रदान की। “इतिहास लेखन में हुए परिवर्तन में नए साक्ष्यों का, और पुराने साक्ष्यों को देखने के नए दृष्टिकोणों का समावेश किया गया है” (थापर 2002 : xix) इतिहास लिखने की इन धाराओं ने हमारे अतीत के बारे में एक आत्म-परीक्षण की दृष्टि विकसित करने में मदद की। गैर-प्रभुत्ववादी स्रोतों और दृष्टिकोणों का उपयोग करने पर, भारत का अतीत ऐसे स्वरों में बोलता है जिन्हें पहले कभी नहीं सुना गया था। अतीत अपने समय में कैद होकर एक निर्धारित स्वरूप में नहीं बना रहता, बल्कि वह बदलता है और अक्सर हमारे वर्तमान और भविष्य में भी जारी रहता है। उसकी पुनर्व्याख्याएं, शायद, हमारे अतीत की तुलना में हमारे भविष्य को अधिक लोकतांत्रिक बनाने में सहायक होती हैं।

उन्नीसवीं सदी में उल्लेखनीय रूप से विकसित हुई, पश्चिमी यूरोपीय पूंजीवादी व्यवस्था को उत्पादन के लिए संसाधनों और तैयार माल को बेचने के लिए बाजारों की जरूरत थी। यूरोपीय उपनिवेशों का निर्माण इन्हीं मांगों को पूरा करने के लिए किया गया। विज्ञान और प्रौद्योगिकी के स्वरूप को भी बहुत हद तक इन्हीं संदर्भों ने निर्धारित किया और सामाजिक विज्ञान जैसी ज्ञान की धाराओं ने अक्सर इन घटनाओं को संसार में वैधता प्रदान की। अभी भी प्रबल रूप से ज्ञान को आजकल के पूंजीवादी वैश्वीकरण के अनुरूप ढाला जा रहा है। इस सबके बावजूद, ज्ञान का अस्तित्व कभी भी एकरूपी चट्टान जैसा नहीं रहा है - उसमें साथ ही साथ विरोधी स्वर, असहमतियां और सामंजस्य के समझौते भी शामिल रहे हैं। परन्तु, जो ज्ञान आधुनिक शिक्षा व्यवस्था में प्रवेश करता है, उसकी प्रकृति आधुनिक राज्य की आवश्यकताओं और उत्पादन की पूंजीवादी पद्धति के द्वारा निर्धारित की गई होती है। इनकी रचना नागरिकों तथा कामगारों की प्रकृति को निर्मित करने के लिए की जाती है। दूसरी ओर, जनवादी दृष्टिकोण अपनी सामाजिक-राजनैतिक वैधता को स्थापित करने और मेहनतकश आम जनता को बेहतर जीवन प्रदान करने के लिए संघर्ष करते हैं। ये परस्पर विरोधी हित ही शिक्षा की उस राजनीति को प्रदर्शित करते हैं जिसमें ज्ञान एक केन्द्रीय भूमिका निभाता है।

पारंपरिक और आधुनिक

आधुनिक ज्ञान की सामाजिक पृष्ठभूमि पूंजीवाद के आविर्भाव की थी जिसने आधुनिक राज्य और विज्ञान के साथ एक खास तरह का संबंध विकसित कर लिया। इसी प्रकार, पारंपरिक ज्ञान की पृष्ठभूमि सामन्ती और उत्पादन की एशियाई पद्धतियों की थी। इन उत्पादन पद्धतियों में श्रमिक लोगों ने अपनी बुनियादी जरूरतों की पूर्ति करने के लिए विभिन्न कौशल विकसित किए, जिनमें खेती करने, खाना पकाने, पशुपालन, मिट्टी के बर्तन बनाने, बड़ईगिरी, जूते-बनाने और कपड़ा बनाने के कौशल शामिल थे। पारंपरिक ज्ञान में चिकित्सा, ज्योतिष, वास्तुकला, शस्त्रों के उपयोग तथा आत्मरक्षा की कलाएं, युद्ध कौशल और खगोल विद्या भी निहित होते थे। शास्त्रीय कला शैलियों की अपनी विशेष उच्च वर्गीय हैसियत थी, उनका स्थान लोकप्रिय कला रूपों से बिलकुल अलग था। सबसे बड़ी बात यह थी कि ज्ञान के इन स्वरूपों का आधार धार्मिक ग्रंथों द्वारा प्रदान किए जाने वाले ज्ञान के वे स्रोत थे जिनकी व्याख्या (भारत में ब्राह्मणों के द्वारा) सामाजिक व्यवस्थाओं के ऊंच-नीच वाले पादानुक्रम को बनाए रखने के लिए की जाती थी। भारत में जाति तथा लिंग के आधार पर पहले से ही यह तय कर दिया गया था कि प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन में क्या करेगा - अर्थात्, ज्ञान की प्रकृति और उसे किस प्रकार प्राप्त किया जाना था, ये पहले से ही तय रहते थे। इसलिए पारंपरिक समाज में ज्ञान तक “पहुंच” के कोई राजनैतिक निहितार्थ नहीं थे। चाहे पुरुष हो या स्त्री, हर व्यक्ति उस ज्ञान को हासिल करता था जो उसकी जाति और लिंग के लिए उपयुक्त होता था।

यूरोपीय पूंजीवाद के माध्यम से ज्ञान के पारंपरिक सामाजिक संबंधों में बड़ा परिवर्तन आया। खेती को छोड़कर, उत्पादन की अधिकांश अन्य प्रक्रियाएं उन कारखानों को हस्तांतरित हो गईं जिन पर पूंजीपतियों का स्वामित्व था और जिन्हें नई मशीनों को चलाने के लिए मजदूरों की आवश्यकता थी। ये मजदूर सामन्ती और ग्रामीण परिवेशों से पूंजीवादी और नगरीय परिवेशों में लाए गए, और उनके कौशलों को नई व्यवस्था को चलाने के लिए आवश्यक कौशलों के अनुरूप बनाया जाना जरूरी हो गया। इसी जरूरत की पूर्ति के लिए आधुनिक स्कूल के आविर्भाव ने बड़े पैमाने पर “सार्वजनिक” शिक्षा को बढ़ावा देकर एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

भारतीय समाज के हाशिए पर रह रहे तबकों के लिए, आधुनिक स्कूली शिक्षा ने ऐसी क्रांतिकारी संभावनाओं के द्वार खोल दिए जो उन्हें नई नौकरियां हासिल करने में, और शिक्षा की पहले से निर्धारित जाति और लिंग की प्रकृति से अलग हटने में मदद कर सकती थीं। कारखाना अपने आप में जाति से संचालित नहीं होता था, और उसमें पुरुषों तथा स्त्रियों, दोनों को काम पर रखा जा सकता था। परन्तु, विडंबना यह है कि आधुनिक रोजगार का भारतीय अनुभव यह दर्शाता है कि जाति-लिंग का कारक उस सोच को निर्देशित करता रहा जो खेतिहर गांवों से शहरों के कारखानों में भी पहुंच गई।

इस तरह, एक आधुनिक समाज में परिवर्तित होने का प्रयास आंशिक और टुकड़ों में बंटा हुआ था। स्त्रियों की शिक्षा के मामले में, आधुनिक स्कूलों ने शुरुआत में उनकी पारंपरिक लिंगाधारित भूमिका को ही मजबूत बनाने का प्रयास किया। 19 वीं सदी के उत्तरार्ध में, जो आर्य समाज, स्त्रियों की शिक्षा के सक्रिय समर्थक के रूप में आगे आया, उनकी उच्च शिक्षा के मद्दे पर उसी में हिचकिचाहट भी थी। “हिन्दू लड़के की अपेक्षा हिन्दू लड़की को बहुत भिन्न प्रकृति वाले कार्य करना पड़ते हैं।... (हम) किसी भी ऐसी व्यवस्था को प्रोत्साहित नहीं करते जो उसे उसके चरित्र की राष्ट्रीय विशेषताओं से वंचित कर सकती हो। अपनी लड़कियों को हम जो शिक्षा देते हैं वह उनकी लिंगाधारित विशेषताओं को नष्ट करने वाली नहीं होनी चाहिए” (कुमार 1993 : 29) (जोर अतिरिक्त दिया गया)। 20वीं सदी के प्रारंभिक दौर में, समाज सुधारक, परोपकारी दानदाता, और सरकार, तीनों ही बच्चों के स्वस्थ विकास में और इसलिए स्वस्थ नस्ल के विकास में, स्त्रियों की महत्वपूर्ण भूमिका को स्वीकारने में एकमत हो गए।

लेकिन, बाद की 20वीं सदी में जब स्त्रियां देश भर में चल रहे विभिन्न सामाजिक-राजनैतिक आंदोलनों में अधिकाधिक रूप से सक्रिय हो गईं, तब पारंपरिक दृष्टिकोणों का प्रतिरोध होने लगा और स्त्रियों की समस्याओं को बहुत भिन्न रूप में व्यक्त किया जाने लगा। राधा कुमार ने 1990 में लिखते हुए (196) ध्यान दिलाया कि भारतीय नारीवादी आंदोलन को उन कई समस्याओं का लंबा अनुभव है जिनका सामना संसार के अलग-अलग भागों में स्त्रियों को करना पड़ रहा है - विशेष रूप से परंपरा और आधुनिकता की समस्याओं, और उनमें नस्लीय, धार्मिक और सामुदायिक पहचानों और राष्ट्रवाद से जुड़ी समस्याएं।

आधुनिक स्कूलों में लोगों की शिक्षा के सामने मौजूद परंपरा और आधुनिकता, दोनों की चुनौतियों के बावजूद, स्कूली शिक्षा ने सामाजिक और राजनैतिक संघर्षों के लिए दृष्टिकोणों को निर्मित करने में अप्रत्यक्ष रूप से मदद की। फुले पर थॉमस पेन की किताब राइट्स ऑफ मैन (मनुष्य के अधिकार), जो उन्होंने 1847 में पढ़ी³, का बहुत अधिक प्रभाव पड़ा। इसी प्रकार, मार्क्स की कृतियों और उनके विचारों के क्रियान्वयन के प्रयासों ने भारत में ग्रामीण क्षेत्र के किसान आंदोलनों और शहरी क्षेत्र के मजदूर संघों को प्रभावित किया। इस प्रकार, जहां एक ओर आधुनिक शिक्षा के लिए रची गई किताबों ने नागरिकों और कामगारों को खास तरह से ढालने की कोशिश करते हुए ज्ञान की राजनीति में अपनी भूमिका निभाई, वहीं उन्होंने पढ़ने के दायरे को बढ़ाया। यह प्रवृत्ति पाठकों को विविध प्रकार के परिवेशों और कालों में, और संसार के अन्य भागों में हो रहे संघर्षों में ले गई, और उसने फिर यहां के कामकाजी वर्ग, दलितों और स्त्रियों के संघर्षों में प्रमुख भूमिका निभाई। ज्ञान में निहित मुक्तिदायक शक्ति को बढ़ाने के लिए हमारा संघर्ष करते रहना जरूरी है, ताकि शिक्षा को सामाजिक वंचितीकरण को मजबूत करने से, और मशीनी कामगारों तथा निष्क्रिय नागरिकों को निर्मित करने की प्रवृत्ति से बचाया जा सके।

धर्म के सभी ओर व्याप्त उस प्रभाव, जिसने पूर्वआधुनिक राज्यों में वैधता प्रदान करने की भूमिका निभाई थी, की जगह आधुनिक राज्य में विज्ञान जैसे वैधता के नए स्रोतों तथा न्याय और समानता जैसे मुक्तिदायी विचारों ने ले ली। पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली वैज्ञानिक ज्ञान तथा निर्माण, परिवहन और संचार के क्षेत्रों में होने वाले अभिनव प्रौद्योगिक परिवर्तनों पर निर्भर करती है। इन्होंने बड़े पैमाने पर किए जाने वाले उत्पादन के विशिष्ट चिह्नों को निर्मित किया और बाजारों को जोड़ने वाली कड़ियों को बढ़ाया, जहां लाभ के लिए किए जाने वाले उत्पादन में तेज गति एक महत्वपूर्ण कारक बन गई। कामगार वर्ग के लिए यांत्रिक श्रम के नए स्वरूप निर्मित करने के साथ ही इसने दूसरी ओर, धार्मिक स्वीकृतियों से मजबूत बने, और सामान्यतया अटूट प्रतीत होने वाले जाति-लिंग के बंधनों से आजाद होने की एक संभावना का द्वार भी खोला। हमारे सभी सामाजिक सुधार आंदोलन पूंजीवाद या आधुनिकता के इसी संधिस्थल से विकसित हुए।

शिक्षा की राजनीति और उत्पादन की प्रक्रिया तथा सामाजिक ढांचे से उसके संबंध की पड़ताल करने में, हमें आज की शिक्षा के लिए प्राचीन भारतीय ग्रन्थों का उपयोग किए जाने के प्रस्ताव की बुद्धिमत्ता पर सवाल उठाने की जरूरत

है। एक समाचार के अनुसार, “वेदों, उपनिषदों तथा अन्य महाकाव्यों का अध्ययन करने के लिए, मंत्रालय एक समिति गठित करने की योजना बना रहा है, ताकि उनमें से शिक्षण के लिए प्रासंगिक सामग्री का चयन किया जा सके” (डेकन क्रानिकल, 7 जून 2014)। जैसे कि पहले चर्चा की गई, प्राचीन और पारंपरिक के अनेक निहितार्थ होते हैं। उनमें से किनका उपयोग किया जाएगा और आज की शिक्षा के लिए किनको उपयोगी माना जाएगा? यह देखते हुए कि यहां उन प्राचीन ग्रन्थों पर जोर दिया गया है जो पारंपरिक भारतीय समाज के ढांचों को विचारधारात्मक और वैधता प्रदान करने की सेवाएं प्रदान करते थे, इसका आशय विचारधारा के दमनात्मक पहलुओं को बढ़ावा देना हुआ। हेनरीलेफेब्रे के विचारों से प्रभावित होकर, विचारधाराओं पर लिखते हुए सरूप (1978 : 63) ध्यान दिलाते हैं कि “बिना बल प्रयोग के व्यवस्था को बनाए रखने में उनकी महत्वपूर्ण भूमिका होती है, जिसे वे दमित और शोषित लोगों की उनकी स्थिति को स्वीकारने की सहमति हासिल करने के द्वारा निभाती हैं। वे ऐसा प्रभुता प्राप्त वर्ग या समूह की छवियां गढ़ने के द्वारा करती हैं।” वर्तमान शिक्षा में बिना समीक्षा के पारंपरिक ज्ञान का प्रवेश करवाया जाना भारतीय समाज के लिए नई चुनौतियां खड़ी करेगा, जबकि वैसे ही यह समाज मानवीय ढंग से रहने के लिए संघर्ष कर रहा है, और इसमें जाति, वर्ग और लिंग के ढांचे, तथा साथ ही धार्मिक आधार पर वंचितकरण के प्रयास आम लोगों के रोजमर्रा के जीवन को बहुत सुखद नहीं रहने देते।

निष्कर्ष

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ और उससे संबद्ध संगठन निश्चित रूप से यह मानते हैं कि अंग्रेज उपनिवेश निर्माताओं के द्वारा भारतीयों का अंग्रेजीकरण करके उनके प्रशासन को चलाने वाले क्लर्क बनाने - न कि उनका ज्ञानवर्धन करके उन्हें प्रगति के वाहक बनाने - के उद्देश्य से भारतीय शिक्षा व्यवस्था को देश पर लादा गया (कुरुवाचिरा 2008 : 130-31)। यह बात एनसीएफएई 2000 के दस्तावेज में प्रमुखता से प्रतिबिंबित होती है जो, निरंतरता और परिवर्तन की प्रक्रिया की बारीकियों की परवाह किए बगैर ही, पारंपरिक और आधुनिक को एक दूसरे के विरोधी के रूप में प्रस्तुत करता है। उपनिवेशवाद की आलोचना करने से पारंपरिक भारतीय समाज के द्वारा वैध ठहराई गई उन धारणाओं को फिर से अपनाने का औचित्य सिद्ध नहीं हो जाता जो जाति और लिंग के आधार पर निर्मित की गई थीं। इसके अलावा, भारत में दक्षिणपंथी व्याख्याएं उनके द्वारा किए गए चयन के कारण भी हानिकारक होती हैं क्योंकि वे इस उपमहाद्वीप में विभिन्न धार्मिक समुदायों के सहअस्तित्व और अनेकता की परंपराओं की कोई चर्चा नहीं करतीं।

भारतीय जनता पार्टी के नेतृत्व वाले राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन की सरकार ने 2000 के बाद के शुरुआती वर्षों में एनसीईआरटी के माध्यम से ऐसी पाठ्यपुस्तकें निकालीं जिन्होंने हिटलर को तो एक राष्ट्रवादी व्यक्ति की तरह गौरवान्वित किया, पर जो उसके शासन में हुए यहूदियों तथा अन्य लोगों के नृशंष जनसंहार के बारे में मौन थीं। और ये पाठ्यपुस्तकें प्रारंभ में इस बात का उल्लेख करना सुविधापूर्वक भूल गईं कि गांधी की नाथूराम गोडसे के द्वारा हत्या की गई थी (कुरुवाचिरा 2008 : 147)। यही वह समय भी था, जब मानव संसाधन विकास मंत्री ने स्त्रियों के अध्ययन विषय को परिवारों के अध्ययन में मिला दिया, जो 19वीं सदी की इस धारणा को प्रतिबिंबित करता था कि स्वस्थ बच्चों (लड़कों) के पालन के लिए स्त्रियों की शिक्षा बहुत जरूरी थी। इसमें मनुस्मृति की अनुगूँज सुनाई देने के साथ ही यह हिटलर की “शुद्ध” नस्ल का पालन करने के लिए मातृत्व की दक्षिण पंथी धारणाओं से भी खासा मेल खाता है।

गाताडे ने 2009 में “आश्रम स्कूलों में जातीय भेदभाव की भयावह स्थितियों” के बारे में लिखते हुए कहा कि “स्वाधीनता के 60 से - अधिक वर्षों के बाद, और सकारात्मक कार्यवाही के कार्यक्रमों की तमाम बातों के बाद भी, एससी-एसटी (अनुसूचित जातियों - अनुसूचित जनजातियों) के अधिकांश लड़के और लड़कियों के लिए शिक्षा प्राप्त करना अभी भी बाधा दौड़ के खेल जैसा है” (2011 : 302), और यह भी कि “हम अभी भी भारतीय संविधान के दायित्वों को पूरा करने से बहुत दूर हैं” (2011 : 303)। ऐसी सर्व समावेशी शिक्षा के लक्ष्य तक पहुंचने के लिए अभी

हमें लंबा सफर तय करना है जो अपनी भूमिका को वंचितीकरण के पारंपरिक और आधुनिक प्रचलनों से मुक्ति के रूप में देखती हो। शिक्षा पर दक्षिणपंथी राजनीति के द्वारा निभाई जा रही भूमिका, श्रमिक लोगों के संघर्षों में ज्ञान के द्वारा निभाई जाने वाली भूमिका के विरुद्ध है। ♦

भाषांतर : भरत त्रिपाठी

(यह लेख 27 दिसंबर 2014 के ईपीडब्ल्यू के अंक से साभार)

लेखिका परिचय: एकलव्य के साथ काम करती हैं जो शिक्षा के क्षेत्र में काम करने वाला एक गैर-सरकारी संगठन है। राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद द्वारा बनाई गई राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा (2005) के लिए सामाजिक विज्ञान पर बने फोकस ग्रुप की सदस्य भी थीं।

संपर्क: yemunas@gmail.com

टिप्पणियां

1. उत्तर प्रदेश की बुनियादी शिक्षा तथा माध्यमिक स्कूली शिक्षा की, तथा सरस्वती शिशु मंदिर की पाठ्यपुस्तकों की एक समीक्षा में इसकी विस्तृत पड़ताल की गई है (उद्भावना, मार्च 2001, दिल्ली)। भारतीय पारंपरिक शिक्षा के अतार्किक महिमामंडन के बारे में सन्नी (2010) कहती हैं कि “यह दस्तावेज आत्म-आलोचना की बात को हल्के ढंग से दरकिनार कर देता है और अक्सर झूठे दावों का उपयोग करता है, उदाहरण के लिए, ब्रिटिश दस्तावेजों के अनुसार, शुरुआती 19वीं सदी के भारत में एक व्यापक शिक्षा व्यवस्था थी, जो जातीय और धार्मिक भेदभाव से मुक्त थी और लगभग सभी गांवों में स्कूल थे”।
2. अतिशूद्र आज की भाषा में “दलित” कहे जाएंगे (देशपांडे 2002 : 3)।
3. पेन (1737-1809) एक सक्रिय क्रांतिकारी और विचारक था जिसने अमेरिकन क्रांति में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। उसने क्रांति की वकालत करने वाले परचों की एक शृंखला निकाली थी, जिसका नाम ‘कॉमनसेंस’ था और जो बहुत प्रभावशाली सिद्ध हुई - इतनी कि यह कहा जाता था कि कॉमनसेंस के लेखक की लेखनी के बिना वाशिंगटन का तलवार उठाना व्यर्थ होता।